00intro:Layout 1 2/1/2019 3:57 PM Page i

प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

जुलाई–दिसम्बर, 2018 (वर्ष 6, अंक 12)
समाज–विज्ञान और मानविकी की पूर्व–समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+
21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21–ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

समीक्षा-संवाद

समीक्षा

संधान

स्मृति-शेष

रपट

हाशियों के भीतर छिपे हुए हाशिये और वि-उपनिवेशीकरण की उलझनें

बारहवें *प्रतिमान* की सामग्री इस बार दो केंद्रों के इर्द-गिर्द संयोजित की गयी है। एक केंद्र हमारी उत्तर-औपनिवेशिक व्यवस्था के तहत लोकतंत्र के जारी आत्मसंघर्ष पर विश्लेषणात्मक टिप्पणियों और शोध-सामग्री के ज़रिये रोशनी डालता है, तो दूसरा विचारों और ज्ञानोत्पादन के वि-उपनिवेशीकरण की विभिन्न दृष्टियों, इतिहास, विवरण और उनसे जुड़ी बहसों से संबंधित है।

सत्तर साल पुराना भारतीय लोकतंत्र इस समय आत्मसंघर्ष के एक ऐसे दौर से गुज़र रहा है जिसकी जटिलताओं को सुलझाए बिना वह अपनी परिपक्वता के अगले चरण में नहीं पहुँच सकता। दरअसल, एक विकट पहेली उसकी आँखों में चुनौतीपूर्ण ढंग से झाँक रही है। साठ से लेकर नब्बे के दशक तक दिखाई यह पड़ता था कि समाज के निचले तबक़े राजनीतिक और आर्थिक निज़ाम में अपना हिस्सा माँगने की जद्दोजहद में लगे हुए हैं। लेकिन पिछले बीस साल के घटनाक्रम ने उन लोगों को भी सड़क पर उतार दिया है जो उस समय बालकनी पर खड़े हो कर सबाल्टर्न जुलूसों का नज़ारा देखा करते थे। पहले वाली जद्दोजहद ख़त्म नहीं हो पाई है, और एक दूसरे प्रतिक्रियामूलक संघर्ष की शुरुआत हो गयी है।

इससे पहले कि व्यवस्था दलित, पिछड़ों और स्त्रियों को उनके वाजिब हक़ दे पाती, एक तरफ़ द्विज और द्विज सरीखे जाति-समुदायों (ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य, भूमिहार, कायस्थ) ने और दूसरी तरफ़ प्रभुत्वशाली जातियों (पटेल, मराठा, जाट और गूजर) ने आंदोलन के उसी मुहावरे को अपना लिया है जिसे वे कभी तिरस्कार की दृष्टि से देखा करते थे। अर्थात्, सामाजिक विकास, आर्थिक प्रगति और राजनीतीकरण के तीनों बुनियादी आयाम एक उतार-चढ़ाव भरी लेकिन मोटे तौर पर समरस प्रकृति की ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया में संलग्न होने के बजाय एक-दूसरे से उलझ कर एक गाँठ की तरह आपस में बँध गये हैं। खोलने की हर कोशिश इस गाँठ को और कस देती है, और ऐसे प्रत्येक कसाव से इस गाँठ के नामालूम दरीचों में फँसे

हुए हमारे लोकतंत्र की साँसें और रुँध जाती हैं।

बारहवें *प्रतिमान* की सामग्री का शुरुआती हिस्सा **सामयिकी** के रूप में इस पीड़ाजनक आत्मसंघर्ष के कुछ पहलुओं को एक हद तक रेखांकित करने का प्रयास करता है। इस स्तम्भ के एक हिस्से में उर्मिलेश ने उत्तर और मध्य भारत में द्विज समुदायों की आंदोलनकारी गोलबंदी का आलोचनात्मक जायज़ा लिया है, और दूसरे में नीरज जैन ने मराठा आरक्षण के बहाने उन व्यवस्थागत नाकामियों पर उँगली रखी है जिनके परिणामस्वरूप प्रभुत्वशाली जातियों को कभी मौन और कभी उत्पाती प्रतिरोध की बानगी दिखानी पड़ रही है।

ज़ाहिर है कि ये समुदाय न पहले हाशिये पर थे, और न अब हैं। ये उत्तर-औपनिवेशिक व्यवस्था के सबसे पहले लाभार्थी हैं और कमज़ोर तबक़े जिस हाशिये के लिए अभिशप्त हैं, वह इन्हीं का बनाया हुआ है। लेकिन, दूसरी तरफ़ आर्थिक प्रक्रियाओं की विफलता के कारण धीरे-धीरे इन समुदायों के भीतर भी एक हाशिया बनता गया है जिसमें इनकी अधिकतर आबादी जातिगत श्रेष्ठता के दम्भ के साथ-साथ दरिद्रता, बेरोज़गारी और उससे उपजी कुंठा में लम्बे अरसे से ज़िंदगी बिताने के लिए अभिशप्त है। इस अंतर्विरोध को हल न कर पाने की विवशता ने ही अपनी समस्याओं का ठीकरा कमज़ोर तबक़ों को दिये जाने वाले आरक्षण पर फोड़ने की राजनीति को जन्म दिया है। जो भी हो, ख़बरों की सुर्ख़ियाँ भले ही इन प्रतिक्रियामूलक जत्थेबंदियों ने अपनी ओर खींच ली हों, बारहवें *प्रतिमान* ने अपना बृहत्तर फ़ोकस हाशिये की राजनीति पर क़ायम रखा है। ख़ास बात यह है कि एथ्नोग्राफ़ी, संवाद और समीक्षा के औज़ारों का इस्तेमाल करते हुए यह अंक इस बार हाशिये में सिमटे हुए समुदायों (आदिवासी, घुमंतू और विमुक्त समुदाय और मुसहर) के संघर्ष को स्वर देने का प्रयास करता है।

भारतीय लोकतंत्र के आदिवासी प्रकरण पर अनुसंधानरत कमल नयन चौबे ने इस बार विशेष रूप से जनजातीय प्रश्न पर विशद सामग्री का आयोजन किया है। **प्रतिमान-संवाद** की परम्परा में उन्होंने नंदिनी सुंदर, नरेंद्र बस्तर, सव्यसाची और अभय खाखा से भारत की 'आदिवासी परिकल्पना : राजनीति, मुद्दे और चिंताएँ' विषय पर एक सारगर्भित, विस्तृत और बहुआयामी बातचीत की है। यह संवाद हमारा ध्यान लोकतंत्र की उन विफलताओं की तरफ़ खींचता है जिनके कारण मध्य भारत की आदिवासी 'शृंगार-भूमि' हमारे मानस-पटल से ग़ायब हो गयी और उसकी जगह 'माओवादी दण्डकारण्य', राजकीय विकास के आतंक और मिशनरी बनाम हिंदुत्व की बहस ने ले ली। इसी के साथ इस हिस्से में नंदिनी सुंदर की बहुचर्चित कृति *द बर्निंग फ़ॉरेस्ट* पर कमल का एक समीक्षा-लेख प्रकाशित किया जा रहा है, और **समीक्षा-संवाद** में कमल की रचना *जंगल की हक़दारी* पर सागर तिवारी और प्रांजल सिंह द्वारा एक मानीख़ेज़ विमर्श की रचना की गयी है।

युवा शोधकर्ता संजू सरोज ने अपने गहन फ़ील्ड-वर्क के माध्यम से दलितों में भी दलित की स्थितियों में जीवन-संघर्ष कर रहे उत्तर प्रदेश के मुसहरों की अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए पासी दलित समुदाय से तुलना करके उन बुनियादी शर्तों का अनावरण किया है जिनका होना हाशिये के भी भीतर हाशियाग्रस्त एक समुदाय के विकास के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार रमाशंकर सिंह ने उन घुमंतू और

विमुक्त समुदायों की राजनीति पर निगाह डाली है जिनके शिशुवत क़दमों ने सत्तर साल बाद अब कहीं जा कर लोकतांत्रिक राजनीति के रास्ते पर चलने की कोशिश शुरू की है। मुसहरों की तरह ये समुदाय भी हाशियाग्रस्तों के राजनीतिक संघर्षों में आम तौर से उपेक्षित ही रहे हैं। विख्यात इतिहासकार चारु गुप्ता ने दलित और पिछड़े समुदायों की विमर्श-रचना की एक ऐतिहासिक हस्ती संतराम बीए के जीवन और कृतित्व पर विस्तृत और बारीक़ विश्लेषणात्मक निगाह डालते हुए आग्रहपूर्वक इशारा किया है कि हाशियाग्रस्तों की वैचारिक प्रवृत्तियों के लगभग भूले हुए कुछ पहलुओं को याद करके हम उनके विमर्श को और समृद्ध कर सकते हैं।

दरअसल, अंक-सामग्री का यह हिस्सा इस वक्तव्य से ओतप्रोत है कि अगर सामाजिक न्याय और बराबरी के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाइयाँ अपने भीतर बनने वाले हाशियों की तरफ़ से आँखें बंद कर लेंगी तो सार्वजनिक जीवन में अनपेक्षित और अनदेखे ढंग से आने वाली विकृतियाँ लोकतंत्र को केवल नाममात्र की संरचना बनने की तरफ़ धकेल देंगी।

हाशिये के भीतर और बाहर से उभरते इन स्वरों के बीच एक ऐसी श्रेणी भी है जो दोनों तरफ़ मौजूद है। यह श्रेणी है भारतीय स्त्री की। तूलिका अस्थाना ने अपने एक अवलोकन में एक गृहिणी और माँ के रूप में बाज़ार की शक्तियों के हाथों बनाई-विज्ञापित की जा रही विविध स्त्री-छवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। ख़ास बात यह है कि तूलिका के अध्ययन के केंद्र में घरेलू साफ़-सफ़ाई में काम आने वाले उत्पादों के विज्ञापन हैं। आधुनिकीकरण और समता के राष्ट्रीय उद्यम के सत्तर साल बीत जाने के बावजूद आज भी भारतीय समाज में सफ़ाई का काम या तो दलितों की एक बिरादरी के ज़िम्मे है, या स्त्रियों के। तूलिका दिखाती हैं कि किस तरह विज्ञापनों में टॉयलेट साफ़ करने की ज़िम्मेदारी निभाते हुए हमेशा स्त्रियाँ ही दिखाई जाती हैं। कई अन्य वजहों के साथ-साथ तूलिका द्वारा पेश किया गया यह **परिप्रेक्ष्य** अपनी गहनता में इसलिए भी मानीख़ेज़ है।

लगभग सभी पिछले अंकों की तरह बारहवाँ *प्रतिमान* भी पाठकों को ज्ञानोत्पादन की प्रक्रियाओं, इतिहास और उससे जुड़ी बहसों के उत्तेजक संसार में ले जाता है। इस सामग्री में एक बार फिर प्रमुख उपस्थिति आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी की है जिन्होंने संस्कृत में होने वाली ज्ञान-रचना के उद्यम में जीवन खपा देने वाले पण्डितों का इतिहास प्रस्तुत किया है। पण्डितों का संसार अपनी विविधता, बहुअनुशासनीयता और अहर्निश अध्यवसाय से हमें चकित कर देता है। हमारा आश्चर्य यह देख कर और बढ़ जाता है कि पश्चिमी ज्ञान की दिग्विजय के दो सौ साल लम्बे दौर के फलस्वरूप पृष्ठभूमि में धकेल दिये जाने के बावजूद भारतीय ज्ञान के इन पारम्परिक वाहकों ने न केवल अपनी जोत जलाए रखी है, बल्कि उनकी एक नयी पीढ़ी भी है :

> बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक पण्डितों की जो जमात बहुत सक्रिय और स्फूर्त थी, वह बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में और इस सदी में पृष्ठभूमि में चली गयी है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पण्डितों ने जो आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाए थे, उनके पीछे का वह स्फूर्त भाव चुक

गया लगता है। पर पण्डितों की एक युवा पीढ़ी उभर रही है, जो अपने समय के प्रति अधिक उत्तरदायी है। अंतत: पण्डित समय के आगे हारे नहीं हैं, न वे अपने दायित्व से च्युत ही हुए हैं। समाज ने उन्हें पहचानना बंद कर दिया है— यह बात अलग है।

इन पृष्ठों में अकसर ज्ञान के क्षेत्र में वि-उपनिवेशीकरण के जटिल प्रश्न को सम्बोधित किया जाता रहा है। **दृष्टि** के तहत आदित्य निगम ने नौवें *प्रतिमान* में 'वैचारिक स्वराज और 'युरोपेतर' की चुनौतियाँ' शीर्षक से जिस चर्चा की शुरुआत की थी, उसके दूसरे भाग में उन्होंने आम्बेडकर, रणजीत गुहा और सुदीप्त कविराज के हवाले से आधुनिक भारतीय राजनीति की निर्मितियों के विशिष्ट भारतीय पहलुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। **परिप्रेक्ष्य** में अम्बिकादत्त शर्मा ने इसी प्रश्न को कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य, जड़ावलाल मेहता, निर्मल वर्मा और श्री अरविंद के माध्यम से एक पूरी तरह से भिन्न धरातल पर संसाधित किया है। उनका लक्ष्य भारतीय मानस के वि-उपनिवेशीकरण के ज़रिये एक प्रामाणिक संस्कृतात्मा की खोज करना है।

पाठकों को याद होगा कि सातवें *प्रतिमान* में संजय जोठे ने 'महिषासुर विमर्श : एक बार फिर मिथकीय पुनर्पाठ' में ब्राह्मणवादी मिथकीय बोध के समक्ष कुछ विचारोत्तेजक चुनौतियाँ फेंकी थीं। संजय की इन चुनौतियों के साथ दसवें *प्रतिमान* में अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र ने 'मिथकीय आख्यान और इतिहास-बोध' शीर्षक से मुठभेड़ की थी। इसी बहस को आगे बढ़ाते हुए जोठे ने इस बार दावा किया है कि उनके पास एक तीसरी दृष्टि है जो इतिहास का संधान एक ऐसे अतीत की तरह कर सकती है जो अनिवार्यत: इतिहास नहीं है। इसके आधार पर वे फुले और आम्बेडकर की राह पर चलते हुए मिथकों, मिथकीय चरित्रों और उनसे जुड़ी सामाजिक मान्यताओं का विश्लेषण इस ढंग से करना चाहते हैं कि अतीत के ज़रिये वर्तमान को नहीं बल्कि वर्तमान के ज़रिये अतीत को समझा जा सके।

विमर्श-रचना को भाषा के प्रश्न से काट कर नहीं देखा जा सकता। ऐतिहासिक कारणों से इस क्षेत्र पर अंग्रेज़ी के एकाधिकार के कई दुष्परिणाम हुए हैं। जैसे, भारतीय भाषाएँ आधुनिक समाज-विज्ञान के दायरे में होने वाली ज्ञान-रचना की प्रक्रिया में भागीदारी नहीं कर सकीं। इस भागीदारी से वंचित होने के कारण उनके दायरे में पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत को व्यक्त करने लायक़ शब्द-सामर्थ्य और पद-रचना का अभाव हो गया। उनकी वाक्य-रचना उस प्रकार के समाज-विज्ञान के अनुकूल मुहावरे के साथ स्वाभाविक रिश्ता क़ायम नहीं कर पायी। नतीजतन इन भाषाओं के भीतर समाज-वैज्ञानिक लेखन के लिए कई तरह के दृश्य-अदृश्य अवरोध तैयार हो गये, और न ही इन भाषाओं में तदनुकूल लेखक और पाठक-वर्ग बन सका। मुकुल प्रियदर्शिनी ने अपने विचारपूर्ण लेख में इस समस्या के विभिन्न पहलुओं को हिंदी के दायरे में विश्लेषित करने का स्वागतयोग्य प्रयास किया है।

भाषा का प्रश्न कितना जटिल है, इसका अंदाज़ा तब और लगता है जब उसे अंग्रेज़ी बनाम भारतीय भाषाओं के द्विभाजन से निकाल कर किसी एक ऐसी भारतीय भाषा के भीतरी दायरों में देखने की कोशिश की जाती है जो

एक निश्चित इतिहास से गुज़रती हुई अब प्रभु-भाषा बन चुकी है। भारत में कम से कम तीन भाषाएँ (हिंदी, तमिल और बांग्ला) यह हैसियत प्राप्त कर चुकी हैं। एश्वर्ज कुमार ने हिंदी-भाषी कहे जाने वाले बिहार में मानक हिंदी के उभरते हुए रुतबे के तले इस प्रदेश की अपनी भाषा भोजपुरी के संघर्ष का आख्यान तैयार किया है। इसके केंद्र में एक तरफ़ ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारी और भाषाविद् जार्ज ग्रियर्सन की हस्ती है जो बिहारी भाषा के पैरोकार हैं, और दूसरी तरफ़ बाबू रामदीन सिंह, उनके खड्गविलास प्रेस, भूदेव मुखोपाध्याय और भारतेंदु मण्डल के साहित्यकारों की दुनिया है जो हिंदी के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं। उपनिवेशकालीन बिहार में मानक हिंदी और भोजपुरी के समांतर चलते विकास-क्रम के ज़रिये भारत की भाषा-समस्या के विस्मृत इतिहास को सामने लाने का यह प्रशंसनीय उद्यम कई विचारणीय प्रश्न खड़े करता है।

अभी तक का अनुभव बताता है कि एक पूर्व-समीक्षित अकादमीय पत्रिका के रूप में *प्रतिमान* का चरित्र और कलेवर सम्भवत: उसके पाठकों को सम्पादक के नाम पत्रों के रूप में सहज रूप से अपनी संक्षिप्त बौद्धिक प्रतिक्रिया देने के लिए उत्साहित नहीं कर पाता। इस बार आलोक टंडन और रमाशंकर सिंह ने इस बाधा को लाँघते हुए पाठक-मंच पर दो प्रतिक्रियाएँ दर्ज कराई हैं। ये दोनों ही हमारे सुपरिचित लेखक हैं। आलोक टंडन प्रसन्न कुमार चौधरी की विट्गेंस्टाइन संबंधी रचना के अनूठेपन पर मुग्ध हैं, और रमाशंकर सिंह ने आलोक की एक समीक्षा पर टिप्पणी करते हुए भारतीय सेकुलरवाद पर बहस में योगदान किया है।

आदिवासी-प्रश्न से संबंधित पुस्तकों पर समीक्षा-लेख और समीक्षा-संवाद के अतिरिक्त इस अंक में सनी कुमार, सतेंद्र कुमार और अटल तिवारी ने क्रमश: अनुष्का सिंह, हृदयकांत दीवान वगैरह और आनंद प्रधान की रचनाओं की **समीक्षा** भी की है। **स्मृति-शेष** में नरेश गोस्वामी ने पूँजीवाद पर गहरी आलोचनात्मक दृष्टि डालने वाले अंतर्राष्ट्रीय रूप से ख्याति प्राप्त विद्वान समीर अमीन और हिलाल अहमद ने भारतीय मुसलमानों पर किये जाने वाले अनुसंधान के दायरे में अपने बेहतरीन इतिहास-लेखन के आधार पर संदर्भ-बिंदु बन चुके मुशीरुल हसन के जीवन और कृतित्व का परिचय दिया है।

अभी तक *प्रतिमान* के पृष्ठों पर समाज-वैज्ञानिक गोष्ठियों, सेमिनारों और सम्मेलनों की रपटें प्रकाशित नहीं की गयी हैं। लेकिन इस बार पंकज कुमार झा और कस्तूरी दत्ता ने दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग द्वारा आयोजित एक दो दिवसीय गोष्ठी की रपट पेश की है। 'पॉलिटी एज़ फ़िक्शन, फ़िक्शन एज़ रियलिटी : फ़िफ़्टी ईयर्स ऑफ़ *राग दरबारी* ' शीर्षक से किया गया यह आयोजन इन अर्थों में विशिष्ट था कि इसमें हिंदी साहित्य की एक कालजयी रचना श्रीलाल शुक्ल रचित *राग दरबारी* पर एकाग्र होते हुए भारतीय राजनीति और समाज की व्याख्याएँ की गयी थीं।